



## महात्मा मनु के चिंतन में धर्म की संकल्पना एवं व्यक्तित्व विकास

डॉ. जितेन्द्र शर्मा

एसोसिएट प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र

म.गॉ.चि.ग्रा.वि.वि., चित्रकूट सतना (म.प्र.)

### आलेख सार

मनुष्य की क्षुद्र काया में असीम संभावनायें विद्यमान हैं। ऐसा हो भी क्यों नहीं क्योंकि वही तो है परमात्मसत्ता का सच्चा उत्तराधिकारी। स्रष्टा का सर्जना का राजकुमार। परन्तु जिस तरह धुंध और कुहासे से आवृत्त भगवान भाष्कर की रश्मियाँ मलिन पड़ जाती हैं उसी तरह से काम, क्रोध, मद, लोभ का प्रभाव मनुष्य के ब्राह्मी व्यक्तित्व को दबाकर उसे प्राकृत जीव सा व्यवहार करने के लिये न केवल विवशकर देता है बल्कि वह अपनी ब्रह्म स्वरूपता को भी विस्मृत कर जाता है। प्रस्तुत शोध आलेख में व्यक्तित्व विकास के सन्दर्भ में महात्मा मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म की संकल्पना की उपयोगिता की मीमांसा की गयी है। सार रूप में लेखकीय मन्तव्य है कि मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म के दशों लक्षणों को अपने कार्य व्यवहार में आत्मार्पित कर मनुष्य न केवल दैवी व्यक्तित्व की विराटता को ही प्राप्त कर सकता है बल्कि आतंकवाद, अत्याचार, व्यभिचार, बलात्कार और भ्रष्टाचार जैसी वैश्विक समस्याओं का आत्यन्तिक निदान भी धर्म के इन्हीं लक्षणों में निहित है। धर्म के ये दश लक्षण धर्म, जाति, रूप, रंग, लिंग से परे सम्पूर्ण मानव जाति के लिये शाश्वत रूप से क्षेमकर हैं।

आत्मस्वरूप या 'आत्मबोध' की जिज्ञासा भारतीय आर्ष परम्परा की थाती रही है। वेदानुगामी आस्तिक दर्शनों की तो बात ही छोड़ दें, आर्यावर्त के नास्तिक दर्शनों का भी वैचारिक केन्द्र जगत के वास्तविक स्वरूप और मनुष्य की स्थिति की वास्तविक जानकारी ही प्राप्त करना रहा है। वस्तुतः इन्हीं प्रश्नों या विषयों के समाधान के आवरण में व्यक्तित्व विकास की रूपरेखा गढ़ी जाती है। सामान्य रूप से यदि हम देखें तो व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं—1. भौतिक (शरीर और शारीरिक सम्बन्धों का कार्य व्यापार), 2. आध्यात्मिक (आत्मा, आत्म तत्त्व का ज्ञान एवं तदनुसार सांसारिक व्यवहार) आत्मा शरीर से पृथक् हैं। आत्मा और शरीर के स्वार्थ भी पृथक्—पृथक् हैं। शरीर के स्वार्थों का

प्रतिनिधित्व मन एवं इन्द्रियाँ करती हैं। स्वादिष्ट भोजन, बढ़िया वस्त्र, मनोहर दृश्य, मधुर श्रवण, रूपवती स्त्री, नाना प्रकार के भोग विलास यह इन्द्रिय की आकांक्षा है। ऊँचा पद, विपुल धन, यश कीर्ति, रोबदाब यह सब मन की आकांक्षायें हैं। इन्हीं इच्छाओं को तृप्त करने में प्रायः सारा जीवन खप जाता है। जब ये इच्छायें अधिक उग्र हो जाती हैं तो मनुष्य उचित-अनुचित का परित्याग कर येन केन प्रकारेण उनकी सर्वतोभावेन सिद्धि में भी अपने जीवन की सार्थकता मान बैठता है। यही भाव समस्त पापों का केन्द्र बिन्दु है। इन्हीं ऐन्द्रिक विषयों की आत्यान्तिक तृप्ति का भाव मानवीय दैवी व्यक्तित्व को पापपुंज एवं शैतानी व्यक्तित्व के रूप में परिणत कर देता है। परिणामतः दिल्ली में निर्भया कांड (पाशविक बलात्कार) जैसी घटनायें और क्रियायें समाज का स्वभाव बन जाती हैं।

जहाँ तक महात्मा मनु के चिंतन में व्यक्तित्व विकास के उपागमों का प्रश्न है, महात्मा मनु एक कुशल समाज शिल्पी एवं महान समाज वैज्ञानिक थे। तत्वमीमांसीय प्रश्नों की व्याख्या उन्होंने गिरि-कन्दराओं में निवास करने वाले मुनियों और संन्यासियों के ऊपर छोड़ दी। उनके चिंतन का प्रधान केन्द्र बिन्दु था 'मनुष्य' और 'मानव समाज'। शरीर और शारीरिक धर्मों को नकार करके मानवीय व्यक्तित्व के विकास की कहानी नहीं गढ़ी जा सकती। उन्होंने शरीर को ही व्यक्तित्व विकास का आदि साधन माना। न तो इन्द्रियों को विनष्ट करना है और न इन्द्रिय भावों का सर्वथा शमन करना है बल्कि इन्द्रियों का नियन्त्रण करना है। इन्द्रिय भावों का परिष्कार कर उसे मानवता के सर्वविध कल्याण में लगाना है। संसार का परित्याग कर मानवता की सच्ची उपलब्धि असंभव है। संसार में रह करके ही आत्माम्युदय और लोक संग्रह हेतु उपक्रम किये जा सकते हैं। धर्म के नियंत्रण में इन्द्रिय भावों का नियमन व्यक्तित्व विकास की प्राथमिक शर्त है। इसी नियमन की पराकाष्ठा व्यक्तित्व विकास का चरम बिन्दु है। मनुष्य को संन्यासी बनकर संसार से पलायन नहीं करना है। बल्कि संसार में रहते हुये मन और इन्द्रियों का समुचित परिष्कार करते हुये उसे मानवता के कल्याण में लगा देना ही व्यक्तित्व की पूर्णता है। यही सच्ची आत्म सिद्धि है। अस्तु, आइये व्यक्तित्व विकास के इसी सन्दर्भ में महात्मा मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म और उसके लक्षणों की मीमांसा करें-

“धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्”<sup>1</sup>

**धृति** : आपत्तिकाल में भी धर्म को न छोड़ना ही धृति या धैर्य है। मानव जीवन गुलाब के फूलों की शैय्या नहीं है बल्कि जीवन चक्र में सुख रूपी दोपहरी और दुःखरूपी अमानिशा अनिवार्यतः आते रहते हैं। जो व्यक्ति प्रतिकूल संकट की घड़ी में भी धैर्यपूर्वक धर्माचरण से विचलित नहीं होते हैं जीवन संग्राम में विजयश्री उनका ही वरण करती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में धैर्य छोड़ते ही दुःख

का कुहासा और गहरा जाता है। धैर्य से विचलन और दुःख की बढ़ती हुई अनुभूति अपनी गहनता के साथ आत्महत्या का कारण बन जाती है। आज के गलाकाट प्रतिद्वन्द्विता के इस युग में हताशा में डूबे हुये आत्महत्या का वरण करने वाले चाहे छात्र हों, किसान हों, नौकरशाह हों या कार्पोरेट जगत में कार्य करने वाले कार्पोरेट मैनेजर/निदेशक हों, को धृति के द्वारा ही नवसंबल और नवजीवन प्रदान किया जा सकता है। श्रीमद् भगवद्गीता में सात्विक, राजसिक और तामसिक रूप में धृति के तीन प्रकार बतलाये गये हैं। सात्विक धृति मन, प्राण और इन्द्रियों को शास्त्र—विरुद्ध कर्म करने से रोकती है। राजसिक धृति से धर्म, अर्थ, काम के लिये कर्म करने की प्रवृत्ति होती है। तामसिक धृति से मनुष्य निद्रा, भय एवं शोक से ग्रस्त होता है।<sup>2</sup>

**क्षमा :** क्रोध को सहना ही क्षमा है। परन्तु क्षमा कायरता नहीं है। “क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो।” अतः समर्थ होने पर भी जो प्रतिकार की भावना से प्रेरित होकर किसी को अहित नहीं पहुँचाता है वह क्षमाशील है। क्षमा हृदय परिवर्तन का बहुत बड़ा उपकरण है। क्षमा से जीवन में कर्तव्य पंथ से भूले-भटके लोगों को न केवल आत्मकल्याण के लिये ही प्रेरित किया जा सकता है बल्कि इससे लोगों को राष्ट्र की मुख्य धारा में जोड़ा भी जा सकता है। व्यक्तित्व विकास के सन्दर्भ में इसका सबसे बड़ा फायदा यह है कि इससे होने वाला व्यक्तित्व परिवर्तन स्थायी होता है। तलवार (शक्ति) के बल पर तो सिर काटे जा सकते हैं परन्तु मन नहीं बदला जा सकता। अतः मन के स्थायी रूपान्तरण (व्यक्तित्व विकास) के लिये क्षमा सहज सुलभ दिव्यौषधिसदृश है। बाबा भारती और डाकू खड्ग सिंह की कहानी भले ही काल्पनिक नाट्य रूपान्तरण ही क्यों न हो परन्तु इसके अनूठे प्रभाव को कोई रोक नहीं सकता। इतिहास का बेहमई हत्याकाण्ड और गुजरात का गोधरा कांड क्षमा जैसे दिव्यास्त्र के जादुयी सामूहिक प्रयोग द्वारा ही रोका जा सकता है। इसके महत्व का प्रतिपादन करते हुये महाभारत में कहा गया है कि क्षमा धर्म है, सत्य है, परमेश्वर है। क्षमा से ही संसार की स्थिति है। ब्रह्म, लोक सत्य एवं यज्ञ क्षमा से ही प्रतिष्ठित है। इसका कभी त्याग नहीं करना चाहिये।<sup>3</sup>

**दम :** मन का नियंत्रण ही दम है। मन स्वभावतः बुरे विषयों की ओर आकर्षित होता है। अतः इसका बुरे विषयों से निवारण करना ही दम है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य आश्रम के सभी धर्म का मूल दम ही है। ब्रह्मचारी दम से ही नियंत्रण करता है तथा अपने पापों का नाश करता है।<sup>4</sup> मन चूँकि इन्द्रियों का राजा होता है। अतः मन का नियंत्रण होते हैं इन्द्रियाँ स्वतः नियंत्रित हो जाती है। आधुनिक समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, व्यभिचार, बलात्कार, भ्रूण हत्या और दहेज प्रथा जैसी बुराइयाँ

मात्र कानून के दण्ड के भय से नहीं रोकी जा सकती। इसके लिये तो नवागत पीढ़ी में दम का संस्कार भरना होगा। तभी जा करके वेश्यावृत्ति और पशुगमन जैसी पाशविक बुराइयों से समाज को स्थायी मुक्ति दिलायी जा सकती है। गीता में तो यहाँ तक कहा गया है कि मन का नियंत्रण किये बिना मनुष्य अगाध विषय सागर को पार नहीं कर सकता, शांति नहीं प्राप्त कर सकता।<sup>5</sup>

**शौच** : वाह्य और आभ्यंतर पवित्रता ही शौच है। शौच धर्म के पालन द्वारा जहाँ मानवीय अस्तित्व, सभ्यता एवं संस्कृति के लिये संकट बने पर्यावरण प्रदूषण की समस्या का शमन किया जा सकता है वहीं आभ्यंतर पवित्रता के द्वारा काम, क्रोध, मद, लोभ, मात्सर्य जैसे आध्यात्मिक शत्रुओं का विनाश भी किया जा सकता है। फलतः इससे जहाँ एक तरफ मानवीय व्यक्तित्व में दैवत्य का आधान होता है वहीं समाज में स्वाभाविक सुख-शान्ति कायम की जा सकती है। व्यक्तित्व परिष्कार के सन्दर्भ में इसके महत्व को प्रतिपादित करते हुये मनुस्मृति में कहा गया है—त्रिदण्ड धारण करना, मौन, जटाभार, मण्डन, बल्कल, मृगचर्म धारण करना, व्रत, स्नान, अग्निहोत्र, वनवास, उपवास आदि निष्फल है जब तक आन्तरिक पवित्रता न हो। शुद्ध मन से धार्मिक क्रियायें फलवती होती हैं।<sup>6</sup>

**इन्द्रिय निग्रह** : जगत का सम्पूर्ण कार्य व्यापार पंच ज्ञानेन्द्रिय, पंच कर्मेन्द्रिय और मन का खेल है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के रूप में विद्यमान जागतिक भोग पदार्थ सम्बन्धित अधिमानी इन्द्रियों के माध्यम से मनुष्य को निरन्तर पतित होने के लिये बाध्य करते रहते हैं और उसके महान व्यक्तित्व को पतन की गहरी खाई में ढकेल देते हैं। अस्तु, भोगपदार्थों का विवेकयुक्त भोग मानव के योगक्षेम की अनिवार्य एवं अन्तिम शर्त है। विवेकयुक्त भोग की भावना का व्यावहारिक रूप ही इन्द्रिय निग्रह है। अन्यथा अनिग्रह जन्य लौकिक एवं पारलौकिक व्याधियाँ जीवन को आकुल-व्याकुल तो कर ही देगी। इसी इन्द्रिय निग्रह की चेतना के प्रभाव द्वारा रत्ना ने कामी, क्रोधी, तुलसी को संस्कृति के उन्नायक गोस्वामी तुलसीदास के रूप में परिवर्तित कर दिया—

“हॉड़-मांस मम चर्म सौ तासौ ऐसी प्रीति। हो जाती रघुनाथ से कट जाती भवभीति।”<sup>7</sup>  
इन्द्रिय निग्रह की सिद्धि को प्राप्त करने वाला व्यक्ति शास्त्रों में “जितेन्द्रिय” की संज्ञा से संज्ञापित किया गया है। धर्मद्रुम में जितेन्द्रिय का लक्षण निरूपण निम्नानुसार किया गया है—

जो अपनी प्रशंसा या निंदा सुन, कोमल या कम्बल धारण कर, सुरूप या कुरूप को देख, सरस या नीरस को खाकर, सुगन्ध या दुर्गन्ध को लेकर हर्ष या विषाद को नहीं प्राप्त होता है वही जितेन्द्रिय है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इन्द्रिय निग्रह के माध्यम से मनुष्य अपने सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, यहाँ तक कि पारिवारिक दायित्वों का ही न केवल शास्त्र सम्मत निर्वहन कर सकता है बल्कि अपनी व्यक्तित्व में जादुई परिष्कार लाते हुये डाकू रत्नाकर से महर्षि बाल्मीकि के रूप में रूपान्तरित भी हो सकता है।

**अस्तेय** : परायी वस्तु का मन, वाणी और कर्म से प्राप्त करने के विचार का परित्याग ही अस्तेय है। ईसावास्य उपनिषद का ऋषि 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्'<sup>8</sup> का उपदेश देते हुये मानवीय कल्याण हेतु इस ऋचा का स्तवन करता है तो मानों वह प्रकारान्तर से अस्तेय व्रत के पालन हेतु मानव समाज को प्रेरित करता है। लोभ के कारण ही व्यक्ति दूसरों के धन का अपहरण करता है। अतः इसका त्याग ही अस्तेय है। स्तेय के कई अंग हैं—

1. स्वयं चोरी करना, चोरी करने की प्रेरणा देना या चोरी करने की प्रशंसा करना।
2. चोरी का माल खरीदना
3. किसी को माप से कम या अधिक देना।
4. कम कीमत की वस्तु को अधिक में बेचना या अधिक दाम की वस्तु को कम में खरीदना।
5. किसी असामान्य परिस्थितियों में वस्तुओं के मूल्य में अनावश्यक वृद्धि करना।

इन सभी प्रकार की चौर वृत्ति से बचना ही अस्तेय है।<sup>9</sup>

कार्य संस्कृति का अभाव भारत सहित बहुत से विकासशील देशों की साम्प्रतिक समस्या है। सरकारी और निजी क्षेत्र के कार्यालयों में पारिश्रमिक की तुलना में अपेक्षाकृत कम कार्य करना युवाओं का शगल बन गया है। प्राप्त पारिश्रमिक से कम मेहनत करना अस्तेय का एक रूप ही है। यह भी एक चोरी है जो न केवल वैयक्तिक विकास में ही बाधक है बल्कि राष्ट्रीय विकास को भी यह निषेधात्मक दिशा देती है। अतः यदि हम अस्तेय व्रत को स्वकीय आचरण का एक अंग बना लें तो राष्ट्र की श्रीवृद्धि में अपना योगदान करने के साथ ही अपने व्यक्तित्व को समुन्नत बना सकते हैं।

**घी** : घी का अर्थ तत्त्वज्ञान से है। जीवन की नानाविध भूमिकाओं में कर्त्तव्य अकर्त्तव्य का विनिश्चय तत्त्वद्रष्टा ही कर सकता है। परन्तु इसके लिये विवेक की आवश्यकता है। विवेक के कारण ही हम शास्त्र विहित कर्म करते हैं और शास्त्र निषिद्ध कर्म का परित्याग करते हैं। चित्त में विवेक के उदय के लिये 'सत्संग' या धर्मग्रन्थों के अध्ययन को उपयोगी बताया गया है। आत्मचिंतन भी इस दिशा में काफी उपयोगी हो सकता है। वस्तुतः यदि हम शान्त भाव से आत्मा की आवाज सुनें तो प्रत्येक कार्य के करने के सम्बंध में हमें एक प्रकाश अवश्य प्राप्त होता है परन्तु काम, क्रोध,

लोभ, मोह में डूबी हुई शरीर भाव में निवास करने वाली आत्मा अपने ही इस प्रकाश या आवाज को उपेक्षित कर देती है परिणामतः अनर्थ की भागी बनती है। अतः विवेक जागरण हेतु हमें आत्माभिमुख होकर चिंतन करना चाहिये और प्राप्त प्रकाश के दिशा निर्देश में लाभालाभ पर विचार किये बिना ही अग्रसर हो जाना चाहिये। प्रारम्भ में यह प्रक्रिया काफी कठिन लगती है परन्तु निरन्तर अभ्यास से यह हमारे चरित्र या स्वभाव का अंग बन जाती है। इस प्रकार तत्वज्ञान के द्वारा मनुष्य शरीर भाव से ऊपर उठकर अपने व्यक्तित्व को बामन से विराट बना सकता है। व्यक्तित्व विकास की इसी पराकाष्ठा को वेदान्त में 'स्वमहिम्निप्रतिष्ठितः' से संज्ञापित किया गया है।

**विद्या :** विद्या का अर्थ आत्मज्ञान है। यही आत्मज्ञान मोक्ष का साधन है। वेदों में स्पष्ट कहा गया है—'ऋते ज्ञानान्मुक्तिः'। महात्मा मनु स्वयं कहते हैं कि सम्यक् ज्ञान से ही मनुष्य कर्मबन्धन में नहीं पड़ता। जिन्हें सम्यक् ज्ञान नहीं है वे ही संसार जाल में फँसते हैं।<sup>10</sup> सांसारिक दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति (मोक्ष) हेतु आत्म ज्ञान की आवश्यकता का अनुसंधान वैदिक ऋषि ने मानवीय सभ्यता के उषःकाल में ही कर लिया था। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्मावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।'<sup>11</sup> इस ऋचा के माध्यम से ऋषि परम प्रभु से आत्म ज्ञान की ही अभ्यर्थना कर रहा है। बौद्ध दर्शन की सम्यक् दृष्टि और सम्यक्स्मृति तथा जैन दर्शन का सम्यक् ज्ञान इसी वैदिक आत्मज्ञान का नास्तिक अभिकथन है। वस्तुतः इसी आत्मज्ञान के अभाव में हम स्वयं को कर्ता, कामी और स्वामी समझ बैठते हैं परिणामतः स्वयं को धर्म, जाति, रूप, रंग, लिंग, भाषा, वेशभूषा, क्षेत्र एवं सम्प्रदाय की अविद्याजन्य सीमाओं में बाँध लेते हैं और एक दिन स्वयं द्वारा निर्मित इन्हीं सीमाओं में सिसककर दम तोड़ देते हैं। तभी तो गीतानायक कृष्ण ने कहा है—

“सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज,

अहं त्वाम् सर्वापापेभ्यः मोक्षस्यामिमाशुचः।”<sup>12</sup>

निम्न दोहे के माध्यम से महाप्राण तुलसी प्रकारान्तर से मनुष्य को व्यक्तित्व विकास में अवरोधक इन्हीं सीमाओं को तोड़ने की प्रेरणा देते हैं—

नारि विवश नर सकल गोसाईं

नाचै नट मर्कट की नाई।।

**सत्य :** सत्य का आचरण तो धर्म का मूल ही है। महात्मा मनु के अनुसार सत्य ही सनातन धर्म है। अतः सत्य बोले, प्रिय बोलें और अप्रिय सत्य न बोलें। प्रिय असत्य भी नहीं बोलना चाहिए।<sup>13</sup>

मुण्डकोपनिषद् में तो यहाँ तक कहा गया है कि सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य से ही देवलोक का मार्ग प्रशस्त होता है।<sup>14</sup> सत्य का आचरण करते हुये यदि प्राण भी चले जाय तो कोई गम नहीं होना चाहिये। आज के इस भोगवादी युग में प्रतिपल प्रति मनुष्य में दिखाई पड़ने वाला व्यक्तित्व का विखंडन असत्यवादिता का आवरण ओढ़ लेने के कारण ही पैदा हुआ है। असत्य वादन और असत्य व्यवहार से व्युत्पन्न मन वाणी और कर्म की अनेकरूपता आज के युवा व्यक्तित्व की पहचान बन गयी है परिणामतः उनका घर, परिवार नाना प्रकार की व्याधियों, आशंकाओं और दुश्चिंताओं का घर बन गया है।

**अक्रोध :** क्रोध का कारण उत्पन्न होने पर भी मन में क्रोध न आना ही अक्रोध है। इस प्रकार अक्रोध का पालन वही कर सकता है जो इन्द्रिय संयम करता हो तथा मन का दमन करता हो। धार्मिक आचरण के लिये काम के समान क्रोध पर भी विजय पाना आवश्यक है। क्रोधी व्यक्ति की प्रवृत्ति हिंसात्मक होती है। क्रोधावेश में व्यक्ति विवेक और संयम दोनों खो बैठता है। परिणामतः वह अनर्थ का भागी बनता है। इसीलिये कहा गया है कि नरक के तीन द्वार हैं—काम, लोभ और क्रोध। काम को दम से, लोभ को दाम से और क्रोध को दया से जीतना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन के आलोक में हम निष्कर्ष रूप कह सकते हैं कि महात्मा मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म के उक्त दश लक्षणों को अपने जीवन में व्यवहृत कर कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को महानता के शिखर पर पहुँचा सकता है या दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म के उक्त दश लक्षण वे साँचे हैं जिसमें ढल कर कोई भी व्यक्तित्व पत्थर से पारस बन सकता है। और 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' का व्यवहार करता हुआ विश्ववारा संस्कृति का एक अंग बन सकता है। स्वयं को स्रष्टा की सर्वोत्कृष्ट सर्जना के रूप में निखार सकता है।

काश, अधुना बाजारवाद और भोगवाद के व्यामोह में आत्मस्वरूप को विस्मृत की हुई मानव जाति मनुस्मृति के उक्त प्रकाश में अपने कर्तव्यपंथ का विनिश्चय कर पाती।

## सन्दर्भ सूची

- 1 मनुस्मृति 6/92
- 2 श्रीमद् भगवद्गीता 18/33-35, गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)।
- 3 महाभारत। वनपर्व, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)।
- 4 तैत्तिरीय उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)।
- 5 श्रीमद् भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)।
- 6 मनुस्मृति

- 
- 7 रामचरित मानस, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)।
  - 8 ईसावास्य उपनिषद अन्तर्गत ईसादिनौ उपनिषद, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)।
  - 9 डॉ. बद्रीनाथ सिंह—नीतिशास्त्र, पृ.365, स्टूडेन्ट्स फ्रेंड्स एण्ड कम्पनी, वाराणसी (उ.प्र.)।
  - 10 मनुस्मृति 6/74, चौखम्भा प्रकाशन वाराणसी (उ.प्र.)।
  - 11 ईशवास्य उपनिषद् मन्त्र, 15, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)।
  - 12 श्रीमद्भगवद् गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)।
  - 13 मनुस्मृति
  - 14 मुण्डकोपनिषद, अन्तर्गत, ईशादिनौ उपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर (उ.प्र.)।